भाषा की परिभाषा और उसके लक्षण

भाषा की परिभाषाः-

" भाषा वह साधन है जिसके माध्यम से हम सोचते हैं तथा अपने विचारों को व्यक्त करते है।"

"भाषा मानव उच्चारण अवयवों द्वारा उच्चारित यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की वह संरचनात्मक व्यवस्था है जिससे भाषा-समाज के लोग अपने विचारों का आदान-प्रदान करता हैं।" भोलानाथ तिवारी

"मैं भाषा को वाक्यों का एक समूह समझता हूँ जो निश्चित तत्वों के समूह से संरचित होते हैं।" चाम्स्की

भाषा के लक्षणः-

1. भाषा सामाजिक वस्तु है
2. भाषा पैतृक सम्पति नहीं है
3. भाषा अर्जित सम्पति है
4. भाषा का अर्जन अनुकण से होता है
5. भाषा परिवर्तनशील होती है
6. भाषा का कोई अन्तिम रूप नहीं होता
7. भाषा कठिनता से सरलता की ओर जाती है
8. हर भाषा का अपना एक मानक या आर्दश रूप होता है
9. हर भाषा की अपनी एक भौगोलिक सीमा होती है

भाषा सामाजिक वस्तु हैःभाषा का सीधा संबंध समाज से है।समाज में भाषा पनपतीहै।व्यक्ति समाज में रहकर ही भाषा सीखता है, सीखकर ही बोलता है।इसलिए भाषा पर समाज का आदि

से अंत तक अधिकार रहता है। जिस समाज में व्यक्ति रहता है,व्यक्ति उस समाज की भाषा बोलता है। साराशतःकहे तो भाषा सामाजिक वस्तु है।

भाषा पैतृक सम्पति नहीं हैःकुछ लोगों का मानना है कि भाषा पैतृक होती है मतलब कि माता-पिता की भापा बच्चा बोलता है।यह धारणा गलत है कयोंकि यदि भारत में जन्मा बच्चा तुरन्त इंग्लैण्ड भेज दिया जाय तो बड़ा होकर पिता की भाषा न बोलकर इंग्लैण्ड की भाषा ही बोलेगा।इस लिए हम कह सकते हैं भाषा पैतृक सम्पति नहीं है।

भाषा अर्जित सम्पति हैः-अर्जन का आशय है भाषा को सीखने का आजीवन प्रयत्न करना। इसी प्रवृत्ति के कारण ही मनुष्य दूसरे प्रांत में जाकर उस प्रांत की भाषा सीख लेता है।उदाहरण के लिए कहे तो अंग्रेज भारत आए तो वे हिंदी सीखे और भारतवासी अंग्रेजी सीखे।सीखने की इस क्रिया को भाषा का अर्जन करना कहते हैं।

मनुष्य जिसके पास रहता है सबसे पहले उनकी भाषा का अनुकरण का अनुकरण करता है।सबसे पहले व्यक्ति अपने आस-पास के परिजनों के शब्द सुनता है और उसे ग्रहण करता है बाद में बोलता है।इसी पक्रिया को अनुकरण कहते है। भाषा

भारतीय आर्यभाषाओं को काल की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है।

(क) प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा (प्रा0भा0आ0भा0 काल) – 1500 ई0 पूर्व से 500 ई0 पूर्व तक।

(ख) मध्य भारतीय आर्य-भाषा (म0भा0आ0भा0 काल) – 500 ई0 पूर्व से 1000 ई0 तक।

(ग) आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा (आ0भा0आ0भा0 काल) – 1000 ई0 से वर्तमान समय तक।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाएँ :

इन भाषाओं का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में देखने को मिलता है। ऋग्वेद का समय अनिश्चित है। ऋग्वेद के मंत्रों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उनकी रचना का समय एवं स्थान फैला हुआ है। ऋग्वेद कई शताब्दियों और कई स्थानों की रचना है। उसमें विद्यमान भाषा-भेदों के कारण हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। ये भाषा-भेद देश और काल के भेद के कारण हैं। ऋग्वेद के दस मंडलों

में से प्रथम और दशम मंडल अपेक्षाकृत बाद की रचना प्रतीत होती हैं। ऋग्वेद के दूसरे मंडल से लेकर सातवें मंडल तक का भाग सबसे प्राचीन है।

(HERMANN OLDENBERG Prolegomena on Metre and Textual History of the Rgveda, trans. into English V. G. Paranjape and M. A. Mehendale (from Metrische und textgeschichtliche Prolegomena, Berlin, 1988), Delhi: Motilal Banarsidass, 2005)

ऋग्वैदिक साहित्य के अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आते हैं। संहिता से उपनिषद् तक का विकास भाव-धारा की दृष्टि से ही नहीं भाषा की दृष्टि से भी महत्वपूपर्ण है। यह विकास शताब्दियों मे ही सम्भव हुआ । भाषिक अध्ययन की दृष्टि से ब्राह्मण-ग्रन्थों का महत्व अधिक है। इसका कारण यह है कि ये ग्रन्थ मुख्यतः गद्य में हैं। उनसे वाक्य-रचना की प्रणाली को जानने में सहायता मिलती है।

जिस भाषा में ऋग्वेद की रचना हुई है, वह बोलचाल की भाषा न होकर उस समय की मानक साहित्यक भाषा थी। उसके समानान्तर लोक-भाषाएँ भी रही होंगी किन्तु उनके लिखित साहित्य के अभाव के कारण उन्हें जानने का कोई साधन अब नहीं है। ऋग्वेद में वर्णित है कि जैसे सूप से सत्तू को शुद्ध किया जाता है वैसे ही बुद्धिमान लोग बुद्धिबल से परिष्कृत भाषा को प्रस्तुत करते हैं (10/ 71 – 2)।

हमें प्राचीन एवं मध्यकाल के भारतीय आर्य-भाषाओं के साहित्यिक भाषिक रूप ही उपलब्ध हैं। विभिन्न क्षेत्रों एवं राज्यों में सामान्य जन के द्वारा बोले जाने वाले भाषिक रूप उपलब्ध नहीं हैं। किसी काल में सामान्यतः साहित्यिक भाषा का आधार उस काल की मानक / सम्पर्क भाषा होती है। भारतीय आर्य-भाषाओं के विकास के परम्परागत अध्ययनों को पढ़ने के बाद पाठक को यह प्रतीति होती है कि प्राचीन एवं मध्यकाल में तो भाषाओं की संख्या कम थी मगर आधुनिक काल में भाषाओं की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हो गई। इस प्रकार की धारणा अवैज्ञानिक तथा अतार्किक है। इसका कारण यह है कि आधुनिक काल में सामाजिक सम्पर्क बहुत बढ़ा है तथा निरन्तर बढ़ रहा है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी भाषा क्षेत्र में सामाजिक सम्पर्क जितना अधिक होता है, भाषा भेद उतना ही कम होता है। वैदिक साहित्य का अध्ययन करने पर इतना तो पता चल ही जाता है कि वेदों की छान्दस् भाषा को उदीच्य प्रदेश के पुरोहित सबसे शुद्ध मानते थे तथा उस काल में मध्यदेशी एवं प्राच्य आदि जन भाषाएँ भी बोली जाती थीं। डॉ० बाबूराम सक्सेना ने प्रतिपादित किया है कि ऋग्वेदसंहिता के सूक्ष्म अध्ययन से मालूम होता है कि उसके सूक्तों में जहाँ तहाँ बोली भेद हैं।

(मध्यदेश का भाषा विकास : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 50, अंक 1-2, सम्वत् 2002 (सन् 1945))।

विद्वानों के एक वर्ग की मान्यता है कि वैदिक भाषा से लौकिक संस्कृत का विकास हुआ है। विद्वानों के दूसरे वर्ग का मत है कि संस्कृत का विकास वैदिक के बदले तद्युगीन किसी बोली से हुआ जो अनेक कारणों से महत्वपूर्ण बन गयी। वैदिक एवं लौकिक संस्कृत के भाषिक विकास के गहन अध्ययन से दूसरा मत अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है। इसका तार्किक आधार यह भी है कि किसी लोक भाषा का संस्कारित रूप ही संस्कृत है। संस्कृत का अर्थ ही है – संस्कारित भाषा। इस वर्ग की मान्यता को समझने के लिए हम खड़ीबोली का उदाहरण ले सकते हैं। अपभ्रंश काल में शौरसेनी का सम्पर्क भाषा के रूप में व्यवहार होता था।15 वीं शताब्दी से लेकर 18 वीं शताब्दी तक शौरसेनी की परम्परा का निर्वाह ब्रज ने अधिक किया। राजनीतिक, आर्थिक, व्यापारिक आदि कारणों से दिल्ली के चतुर्दिक बोली जाने वाली खड़ी बोली हिन्दी भाषा-क्षेत्र की अन्य उपभाषाओं / बोलियों की तुलना में आगे निकल गई और अन्य उपभाषाओं एवं पंजाबी आदि भाषाओं के भाषिक तत्वों के समाहार से स्वाधीनता आन्दोलन के समय सम्पूर्ण भारत की सर्वमान्य राष्ट्रभाषा बन गयी । राष्ट्रभाषा या साहित्यिक भाषा बनने का यह अर्थ नहीं कि उसके बाद हिन्दी भाषा क्षेत्र की अन्य उपभाषाओं / बोलियों का व्यवहार होना बन्द हो गया । संस्कृत भाषा भी समसामयिक अन्य लोकभाषाओं/ जनभाषाओं की तुलना में आगे निकल गयी और भारत की सांस्कृतिक भाषा बन गयी । यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि इसका क्या प्रमाण है संस्कृत काल में अन्य जन भाषाएँ विद्यमान थीं। इसका कारण यह है कि वे भाषिक रूप उपलब्ध नहीं हैं। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि साहित्य में ही यत्र तत्र कुछ उल्लेख मिलते हैं जो उस काल की भाषा-भिन्नताओं की सूचना देते हैं। अथर्ववेद के 12 वें कांड के पृथिवी सूक्त में "जन बिभ्रती बहुधा विवाचसं" का उल्लेख प्राप्त है जिससे सामान्य जनों द्वारा विविध भाषिक रूपों के अस्तित्व का संकेत प्राप्त होता है। वाल्मीकि रामायण के किष्किन्धा कांड में शुद्ध भाषा सीखने हेतु व्याकरण का अध्ययन करने तथा अपभाषित से बचने के निर्देश प्राप्त हैं। इसी रामायण के हनुमान जब राम का संदेश लेकर लंका में सीता के पास पहुँचते हैं तो उनके मन के द्वन्द को रचनाकार ने अभिव्यक्त किया है। द्वन्द का कारण है कि सीता को संदेश किस भाषा में दिया जाए – दैवी भाषा संस्कृत में अथवा मानुषी भाषा में। हनुमान अपने से प्रश्न करतें हैं कि "यदि मैं दैवी भाषा शुद्ध परिष्कृत संस्कृत में बात करूँ तो कहीं देवी सीता यह न समझ लें कि मैं रावण द्वारा वानर का भेष बनाकर आया हूँ" :

यदि वाचं प्रदास्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्।

रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति।

(वाल्मीकि रामायण – 5/30/17-19)

कालिदास के कुमार सम्भव में वर्णित है कि शंकर एवं पार्वती के विवाह के अवसर पर सरस्वती शंकर से जिस भाषा में बात करती हैं उससे भिन्न भाषा में वे पार्वती से बात करती हैं। भरत मुनि ने नाना देशों के प्रसंग के अनुसार भाषिक प्रयोगों का विधान किया है।

(नाट्यशास्त्र, 18/ 17-19)।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यद्यपि संस्कृत भाषा काल में हमें विभिन्न समसामयिक अन्य लोकभाषाओं/ जनभाषाओं के रूप उपलब्ध नहीं हैं तथापि भाषा-व्यवहार की सर्वसामान्य मान्यता तथा तद्युगीन साहित्य के उपर्युक्त संदर्भों के आधार पर यह माना जा सकता है कि संस्कृत भाषा काल में विभिन्न समसामयिक अन्य लोकभाषाओं/ जनभाषाओं का व्यवहार होता था।

वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत भाषाओं की सामान्य प्रवृत्तियों का सार निम्न हैः

(1) वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक हैं।

(2) वैदिक भाषा में विसर्ग के दो उपस्वन भी मिलते हैं। द्वि-ओष्ठ्य संघर्षी(उपध्मानीय) एवं कंठ्य संघर्षी(जिह्वामूलीय)। इनका पूरक वितरण है। उपध्मानीय द्वि-ओष्ठ्य उपस्वन स्पर्श व्यंजनों के पूर्व /तथा जिह्वामूलीय कंठ्य स्पर्श उपस्वन व्यंजनों के पूर्व बोला जाता था। लौकिक संस्कृत में दोनों उपस्वनों का प्रयोग होना समाप्त हो गया तथा इनके स्थान पर विसर्ग का ही प्रयोग होने लगा।

(3) वैदिक संस्कृत में ऐ एवं औ का उच्चारण वृद्धि स्वर अर्थात क्रमशः आ$इ तथा आ$उ रूप में होता था। लौकिक संस्कृत में इनका उच्चारण अ$इ तथा अ$उ रूप में होने लगा।

(4) वैदिक संस्कृत में ऋ एवं ऌ का आक्षरिक उच्चारण होता था, अर्थात इनका स्वरवत् प्रकार्य था। लौकिक संस्कृत में इनका शुद्ध उच्चारण होना बंद हो गया, अर्थात इनकी अक्षर-शिखर की प्रकार्यता समाप्त हो गई।

(5) वैदिक संस्कृत में रूप-रचना में अधिक विविधता और जटिलता है। उदाहरणार्थ, प्रथम विभक्ति के बहुवचन में देव शब्द के देवाः और देवासः दोनों रूप मिलते हैं। इसी तरह तृतीया के एकवचन मे देवैः और देवेभिः दोनों रूप मिलते हैं। संस्कृत में आकर रूप अधिक व्यवस्थित हो गए और

अपवादों तथा भेदों की कमी हो गयी। उदाहरणार्थ, पूर्वोक्त दोनों वैकल्पिक रूप छँट गए और एक-एक रूप (देवाः तथा देवैः) रह गए।

(6) वैदिक संस्कृत में सम्भावनार्थक (हेतुहेतुमत्) का भी प्रयोग होता था। लौकिक संस्कृत में इसका सामान्य रूप से प्रयोग होना समाप्त हो गया। केवल इच्छार्थक वृत्ति का प्रयोग शेष रह गया।

(7) वैदिक संस्कृत अनुतानात्मक है जिसके उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित स्तर हैं। लौकिक संस्कृत में अनुतान के स्थान पर बलाघात का प्रयोग होने लगा।

(8) दोनों कालों की भाषाओं में तीन लिंग और तीन वचन हैं।

(9) वैदिक संस्कृत में उपसर्ग का प्रयोग मूल शब्द से हटकर अर्थात स्वतंत्र शब्द के रूप में भी मिलता है किन्तु लौकिक संस्कृत में इसका प्रयोग शब्द में जुड़कर अर्थात उपसर्ग के रूप में ही मिलता है।

(ख) मध्य भारतीय आर्य-भाषाएँ :

विद्वानों ने मध्य भारतीय आर्य भाषाओं के तीन विकास-काल माने हैं :

(अ)प्रथम काल (500 ई0 पूर्व से ई0 सन् के आरम्भ तक)-

पालि

(आ) द्वितीय काल (ई0 सन् के आरम्भ से 500 ई0 तक)-

साहित्यिक प्राकृत

(इ) तृतीय काल (500 ई0 से 1000 ई0 तक)-

अपभ्रंश

लेखक की मान्यता है कि संस्कृत से भेद दिखाने के लिए हम मध्य भारतीय आर्य भाषाओं के काल को सामान्य नाम भी दे सकते हैं और इसे प्राकृत कह सकते हैं।

मध्य भारतीय आर्य भाषाओं के प्रथम विकास काल का विवरण :

(अ)प्रथम प्राकृत (500 ई0 पूर्व से ई0 सन् के आरम्भ तक)-

गौतम बुद्ध के उपदेशों की भाषा पालि, जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर

महावीर के उपदेशों की भाषा एवं अशोक के अभिलेखों की भाषाएँ :

कुछ विद्वान संस्कृत से पालि-प्राकृत की उत्पत्ति मानते हैं।

(प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत् आगतं वा प्राकृतम् – सिद्धहेमशब्दानुशासन, 8/1/1)

यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि प्रा0भा0आ0भा0 काल में संस्कृत संस्कारित भाषा थी। समाज के शिक्षित वर्ग की भाषा थी। उसी के समानान्तर विविध जनभाषाओं/ लोकभाषाओं की भी स्थिति थी। प्राकृत का अर्थ ही है – प्रकृत।

(प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्)। (– – – प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतं)। इनके परिप्रेक्ष्य मेंअधिक तर्कसंगत यह मानना है कि संस्कृत के समानान्तर जो जन-भाषाएँ थीं, उन्हीं के विकसित रूप प्राकृत हैं।

(क) गौतम बुद्ध के उपदेशों की भाषा पालि-

पालि भाषा की उत्पत्ति को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं। पालि शब्द का अर्थ क्या है और वह कहाँ की भाषा थी। इन दोनों प्रश्नों को लेकर भी विद्वानों में मतभेद हैं। पालि शब्द की निरुक्ति को लेकर अनेक कल्पनाएँ की गई हैं।

(1)पंक्ति शब्द से निम्नलिखित विकास क्रम में पालि की निष्पत्ति बतायी जाती है-

पंक्ति > पंति > पत्ति > पट्ठि > पल्लि > पालि ।

इस विकास क्रम में ध्वनि-नियम से अधिक अपनी बात प्रमाणित करने का आग्रह है। दंत्य से मूर्द्धन्य तथा फिर मूर्द्धन्य से पार्श्विक के विकास क्रम की प्रवृत्ति संगत नहीं है।

(2) पल्लि (गांव) से पालि को निष्पन्न बताया जाता है। पल्लि-भाषा अर्थात गांव की भाषा । इस व्युत्पत्ति में भी कठिनाइयाँ हैं। एक तो यह कि द्वित्व व्यंजन में एक व्यंजन -ल् का लोप और पूर्व स्वर का दीर्घत्व प्रथम प्राकृत काल की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है दूसरी यह कि सामान्यतः इस स्थिति में शब्द के दूसरे अक्षर के ह्रस्व स्वर का दीर्घीकरण होना चाहिए था। पालि में ह्रस्व स्वर ही है।

(3) प्राकृत > पाकट > पाअड़ > पाअल > पाल > पालि

यह स्वन परिवर्तन भी विकास क्रम की प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं है।

(4) एक विद्वान ने पाटलिपुत्र शब्द से पालि को व्युत्पन्न करने का प्रयास किया है । उनका कथन है कि ग्रीक में पाटलिपुत्र को पालिबोथ्र कहते हैं। विदेशियों द्वारा किसी शब्द के उच्चारण को भारतीय भाषा का अभिधान मानना भी संगत नहीं है। इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है ।

(5) एक विद्वान ने पालि का सम्बन्ध पर्याय शब्द से जोड़ा है -

पर्याय > परियाय > पलियाय > पालि

प्राचीन बौद्ध साहित्य में बुद्ध के उपदेश के लिए पर्याय शब्द का प्रयोग होता था इसलिए पर्याय से पालि को निष्पन्न बताया गया है । एक मत यह भी है कि पाल्

धातु से पालि शब्द बना है जिसका अर्थ पालन करना या रक्षा करना है। जिस भाषा के द्वारा बुद्ध के वचनों की रक्षा हुई, वह पालि है। वास्तव में पालि का सम्बन्ध बुद्ध वचनों/ बौद्ध साहित्य से ही है, इस कारण अन्तिम दो मत अपेक्षाकृत अधिक संगत हैं।

पालि किस स्थान की भाषा थी – इस सम्बंध में भी मत भिन्नता है। श्रीलंका के बौद्ध भिक्षुओं ने इसे मगध क्षेत्र की भाषा माना है किन्तु पालि का मागधी प्राकृत से भाषिक संरचनागत सम्बन्ध नहीं है। इस कारण यह मगध क्षेत्र की भाषा नहीं हो सकती। इसी संदर्भ में यह भी दोहराना उपयुक्त होगा कि पाटलिपुत्र शब्द के ग्रीक उच्चारण से पालि की व्युत्पत्ति के मत का भी हमने समर्थन नहीं किया है।

संस्कृत के अघोष संघर्षी व्यंजन (ऊष्म) स्, ष्, श् में से मागधी में श् का तथा अर्द्धमागधी एवं शौरसेनी में स् का प्रयोग होता है। पालि में केवल स् का ही प्रयोग होता है। इस कारण पालि का

आधार मागधी तो हो ही नहीं सकता। इसका मूल आधार अर्द्धमागधी एवं/अथवा शौरसेनी ही हो सकती है। इस सम्बंध में आगे विचार किया जाएगा।

सम्प्रति, संस्कृत से पालि के भेदक अन्तरों को जानना आवश्यक है। ये निम्न हैं :

(1) संस्कृत तक ए , ओ , ऐ ,औ सन्ध्यक्षर थे अर्थात् अ $ इ > ए / अ $उ > ओ / आ $ इ > ऐ / आ $ उ> औ। (सन्ध्यक्षर = दो स्वर मिलकर जब एक अक्षर का निर्माण करें)

(दे० डॉ. महावीर सरन जैन: परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृष्ठ 175-182)

पालि में ऐ एवं औ के स्थान पर ए एवं ओ का प्रयोग होने लगा। अय् एवं अव् के स्थान पर भी ए एवं ओ का प्रयोग होने लगा। व्यंजन गुच्छ के पूर्व ए एवं ओ का ह्रस्व उच्चारण होने लगा। इस प्रकार पालि में ए एवं ओ के ह्रस्व एवं दीर्घ दोनों प्रकार के उच्चारण विकसित हो गए।

(2) प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में प्रयुक्त ऋ एवं ऌ का लोप हो गया।

(3) व्यंजन गुच्छ में एक व्यंजन का लोप तथा अन्य व्यंजन का समीकरण पालि एवं प्राकृत भाषाओं का महत्वपूर्ण भेदक लक्षण है। वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत के शब्दों में प्रयुक्त पहले व्यंजन का लोप होकर बाद के व्यंजन का समीकरण हो जाता है अथवा बाद के व्यंजन का लोप होकर पूर्व व्यंजन का समीकरण हो जाता है। उदाहरण:

(अ) पहले व्यंजन का लोप तथा बाद के व्यंजन का समीकरणः

सप्त > सत्त / शब्द > सद्द / कर्क > कक्क / सर्व > सब्ब / निम्न > निन्न

(आ) बाद के व्यंजन का लोप तथा पहले व्यंजन का समीकरणः

लग्न > लग्ग / तक्र > तक्क / शुक्ल > सुक्क / शक्य > सक्क / अश्व > अस्स

(4) शब्द-रूपों में व्यंजनान्त रूपों का अभाव हो गया । शब्द सस्वर बन गए।

(5) द्विवचन का लोप हो गया। आगे भी इस वचन का प्रयोग होना बन्द हो गया।

(6) यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि वैदिक भाषा में रूप-रचना में अधिक विविधता और जटिलता है। उदाहरणार्थ, प्रथम विभक्ति के बहुवचन में देव शब्द के देवाः और देवासः दोनों रूप मिलते हैं। इसी तरह तृतीया के एकवचन मे देवैः और देवभिः दोनों रूप मिलते हैं। संस्कृत में आकर रूप अधिक व्यवस्थित हो गए और अपवादों तथा भेदों की कमी हो गयी। उदाहरणार्थ, पूर्वोक्त दोनों वैकल्पिक रूप छँट गए और एक-एक रूप (देवाः तथा देवैः) रह गए। पालि में वैदिक भाषा के रूपों का भी प्रयोग मिलता है।

(7) आत्मनेपद लुप्तप्राय है।

पालि का महत्व बौद्धमत की हीनयान शाखा के साहित्य के माध्यम के रूप मे बहुत अधिक है।

(ख) जैन धर्म के चैबीसवें तीर्थंकर महावीर के उपदेशों की भाषाः

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि 600 ईस्वी पूर्व से लेकर 500 ईस्वी पूर्व की काल अवधि में जैन धर्म के चैबीसवें तीर्थंकर महावीर एवं बौद्ध धर्म के संस्थापक बुद्ध ने मगध, विदेह, वत्सदेश, कुणाल, अंगदेश, काशी,पांचाल, कोशल, शूरसेन, दशार्ण आदि राज्यों एवं जनपदों में चतुर्दिक घूम घूमकर उपदेश/प्रवचन दिए। उपर्युक्त वर्णित राज्यों एवं जनपदों की भौगोलिक स्थिति वर्तमान में नेपाल देश का भूभाग तथा भारत के बिहार, झारखंड, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, हरियाणा, मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ आदि राज्यों का भूभाग है। राजनैतिक दृष्टि से इस काल में दो प्रकार की शासन व्यवस्थायें थीं। मगध में राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था थी। मल्ल, लिच्छिवी, काशी, कोशल आदि 18 गणराज्यों ने मिलकर महासंघ बनाया था जो अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली था तथा इस महासंघ का मुख्यालय वैशाली में स्थित था। इस महासंघ की सम्पर्क भाषा का अंतरराज्यीय व्यवहार के लिए प्रयोग होता होगा तथा भारत के बड़े भूभाग के निवासियों के नागरिक इसे समझते होंगे।

महावीर के जीवनवृत्त में देशना के संदर्भ में यह जानकारी मिलती है कि उनके युग में कितनी भाषाएँ एवं उनकी क्षेत्रीय उपभाषाएँ/बोलियाँ बोली जाती थीं तथा किस प्रकार उन्होंने ऐसी भाषा में उपदेश दिया जो सबके लिए बोधगम्य थी। भाषाओं के लिए महाभाषाओं एवं क्षेत्रीय प्रभेदों के लिए भाषाओं/बोलियों अभिधान का प्रयोग हुआ है तथा यह विवरण भी मिलता है कि जब उनकी

देशना हुई तो उसका परिणमन अठारह महाभाषाओं एवं सात सौ भाषाओं में होने लगा जिसकी व्याख्या मैंने इस प्रकार की हैः

देशना का विभिन्न भाषाओं में परिणमनः ग्रन्थों में वर्णित है कि भगवान महावीर का उपदेश अर्ध मागधी प्राकृत में हुआ। अर्ध मागधी का श्रवण के समय अठारह भाषाओं में तथा सात सौ भाषाओं में परिणमन होने लगा। इसकी एक व्याख्या इस प्रकार सम्भव है कि भगवान महावीर एवं गौतमबुद्ध के समय मगध और शूरसेन प्रदेश के मध्यवर्ती भूभाग में व्यवहृत जनभाषा (अर्ध मागधी का महावीर युगीन भाषा रूप) का व्यवहार अठारह महाभाषाओं के क्षेत्र में सम्पर्क भाषा के रूप में होता होगा। अर्ध-मागधी सम्पर्क भाषा थी जबकि अन्य भाषाएँ प्रदेशों की भाषाएँ थीं। कुछ ग्रन्थों में मगध, मालव, महाराष्ट्र, लाट, कर्णाटक, गौड़,विदर्भ आदि देशों की भाषाओं को देशी भाषा कहा गया है। कुछ ग्रन्थों में
कोल्ल, मगध, कर्णाटक, अन्तर्वेदी,कीर, ढक्क,सिन्धु, मरु, गुर्जर, लाट, मालवा, ताजिक, कोशल, मरहट्ठ (महाराष्ट्र) और आन्ध्र प्रदेश की भाषाओं का देसी भाषा के रूप में उल्लेख मिलता है। अर्धमागधी का जो रूप सम्पूर्ण प्रदेशों में सम्पर्क भाषा के रूप में व्यवहृत था उसमें उन देशी भाषाओं के शब्द आदि का मिश्रण हो गया था। सम्पर्क-भाषा होने के कारण यह सर्वभाषात्मक थी। इसका प्रयोग होने पर सभी प्रदेशों के निवासियों के लिए बोधगम्य थी।

(दे० डॉ० महावीर सरन जैन: भगवान महावीर एवं जैन दर्शन, पृ० 69)

इस कारण विद्वानों एवं शोधकों को इस काल की भाषा का काल 500 ई० पू० से न मानकर 600 ई० पू० से मानना चाहिए। भाषा का अभिधान पालि की अपेक्षा महावीर एवं बुद्ध के उपदेशों की भाषा करना चाहिए। दोनों ने एक ही काल में तथा समान भूभागों में उपदेश/प्रवचन दिए थे। दोनों के उपदेशों की भाषा का गहन अध्ययन करने पर इसी कारण उनकी भाषिक समानता स्पष्ट हो जाती है। दोनों ने एक भाषा का व्यवहार किया था। यहाँ दोनों के उपदेशों की भाषिक समानता को विवेचित एवं विश्लेषित करने का अवकाश नहीं है। अभी तो हम केवल दोनों के उपदेशों के एक-एक वाक्य देकर अपनी बात को स्पष्ट करना चाहेंगे :

(अ)भगवान महावीर की वाणी- अप्पा कत्ता विकत्ता य।

(आ) गौतम बुद्ध की वाणी – अत्ता ही अत्तनो नाथो।

अभी तक इस काल की भाषा का अध्ययन केवल बुद्ध वचनों के आधार पर हुआ है। पालि के आधार पर हुआ है। विद्वानों को दोनों के उपदेशों की भाषा के गहन अध्ययन करते हुए

तदनन्तर अशोक के शिलालेखों (260 ई० पू० से 232 ई० पू०) में प्राप्त भाषिक भिन्नताओं का गहन अध्ययन सम्पन्न करना चाहिए तथा यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि प्राप्त भाषिक भिन्नताएँ हिन्दी, बंगला, मराठी आदि भिन्न भिन्न-भिन्न भाषाओं की भाँति हैं अथवा हिन्दी के ही कोलकोतिया हिन्दी एवं मुंबइया हिन्दी की भाँति एक ही तद्युगीन सम्पर्क भाषा के प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय भाषाओं से रंजित रूप हैं। मेरा अपना विचार है कि ये अलग अलग भाषाएँ नहीं हैं। एक भाषा के तत्कालीन बोले जाने वाले विभिन्न भाषाओं से रंजित रूप हैं।

(ग) अशोक के अभिलेखः

अशोक के अभिलेख पश्चिमोत्तर भारत (अब पाकिस्तान) से लेकर दक्षिण भारत के कर्नाटक तक मिलें हैं। इनका काल 256 ईस्वी पूर्व से लेकर 240 ईस्वी पूर्व माना जाता है। दो अभिलेख (शहबाजगढ़ी और मानसेहरा) खरोष्ठी लिपि में, एक अभिलेख (कंदहार के पास शार-ए-कुना) आरमेई एवं यूनानी में तथा शेष सभी ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण हैं। ब्राह्मी लिपि के अभिलेखों में अ , आ , इ , उ , ए एवं ओ इन 6 मूल स्वरों के लिए वर्ण मिले हैं। व्यंजन$अ अर्थात् स्वरांत निम्नलिखित व्यंजनों के लिए वर्ण मिलते हैं :

(क) स्पर्श व्यंजनः क,ख,ग,घ,च,छ,ज,झ,ट,ठ,ड,ढ,त,थ,द,ध,प,फ,ब,भ

(ख) नासिक्य व्यंजनः ञ,ण,न,म

(ग) संघर्षी व्यंजनः श,ष,स,ह

(घ) पार्श्विक व्यंजनः ल,ळ

(च) लोड़ित व्यंजनः र

(छ) अर्ध स्वर : य,व

इन स्वर एवं व्यंजन वर्णों के लिए इन अभिलेखों की ब्राह्मी लिपि में मिलने वाले वर्णों एवं कुछ व्यंजनों को स्वर मात्राओं सहित तालिका में इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता हैः

(विकिपीडिया से साभार)

अशोक के अभिलेखों के अतिरिक्त कुछ अन्य अभिलेख भी मिलें हैं जिनमें कलिंगराज खारवेल का हाथी गुम्फा का अभिलेख एवं यवन राजदूत हिलियोदोरस का बेसनगर का अभिलेख अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन अभिलेखों के अध्ययन से स्पष्ट है कि तद्युगीन प्राकृत में स्थान भेद से भेद हो गए थे। ये भेद मुख्य रूप से चार प्रकार के हैं – उत्तर-पश्चिमी, दक्षिण-पश्चिमी, मध्यदेशीय, पूर्वी। विद्वानों द्वारा इनका विस्तृत अध्ययन सुलभ है।

(दे० 1. डॉ० सुकुमार सेन: तुलनात्मक पालि-प्राकृत-अपभ्रंश व्याकरण, पृ० 16-21, लोक भारती प्रकाशन,इलाहाबाद, (1969)

2. डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री: अशोक-कालीन भाषाओं का भाषाशास्त्रीय सर्वेक्षण, परिषद्-पत्रिका, वर्ष 8, अंक3-4)

कुछ विद्वानों ने इस काल के अन्तर्गत मध्य एशिया के निय स्थान से सर औरेल स्टीन द्वारा प्राप्त खरोष्ठी पाण्डुलिपियों की निय प्राकृत का भी अध्ययन किया है किन्तु ये प्रथम प्राकृत की कालसीमा के बाद की हैं। इस कारण निय प्राकृत का प्रथम प्राकृत काल सीमा अर्थात् 500 ईस्वी पूर्व से ईस्वी सन् के आरम्भ तक के अन्तर्गत अध्ययन करना संगत नहीं है।

(आ) द्वितीय प्राकृत (ई0 सन् के आरम्भ से 500 ईस्वी तक)-

साहित्यिक प्राकृत -

प्राकृतें विभिन्न लोक-भाषाएँ थीं, वाचिक भाषाएँ थीं । आज उन्हें जानने का आधार उनका साहित्यिक रूप ही है। प्राकृतों की संख्या को लेकर पर्याप्त मतभेद हैं। परम्परागत दृष्टि से इनके निम्नलिखित भेद माने जाते हैंः

(1)महाराष्ट्री(विदर्भ महाराष्ट्र)

(2) शौरसेनी (सूरसेन- मथुरा के आस-पास)

(3) मागधी (मगध)

(4)अर्द्धमागधी (कोशल)

(5)पैशाची (सिन्ध)

वस्तुतः प्राकृतों की संख्या निर्धारित करना कठिन है क्योंकि वे विभिन्न जनपदों की लोक भाषाएँ थीं । इसलिए जितनी लोक-भाषाएँ रही होंगी, उतनी ही प्राकृतें भी मानना चाहिए । किन्तु इन लोक प्राकृतों को जानने का कोई साधन नहीं है। यों
आभारी, आवन्ती, गौड़ी, ढक्की, शाबरी, चाण्डाली आदि अनेक नाम यत्र-तत्र पाये जाते हैं।प्राकृत भाषाओं का ज्ञान मुख्यतः संस्कृत नाटकों और जैन साहित्य पर आधारित है। विभिन्न विद्वानों ने इन प्राकृतों का अध्ययन किया है।

(देखें-1. R. Pischel's *Grammatik der Prakritsprachen* : Strasburg (1900)

2. R. Pischel's *Grammar of the Prakrit Languages*: New York, Motilal Books (1999)

3. H. Jacobi's *Ausgewahlte Erzahlungen in Mdhardshtri zur Einfiihrung in das Studium des Prakrit, Grammatik, Text, Worterbuch* : Leipzig (1886)

4. E. B. Cowell's of Vararuci's *Prakrta-prakasa* : London (1868)

5. E. Hultzsch's of S irhharaja's *Prakrtarupavatara* : London (1909)

6. *Rajacekhara's Karpuramanjari,* edited by S. Konow, translated by C. R. Lanman : Cambridge, Mass. (1901)

7. Banerjee, Satya Ranjan. *The Eastern School of of Prakrit Grammarians - a linguistic study* : Calcutta, Vidyasagar Pustak Mandir (1977)

8. Woolner, Alfred C. *Introduction to Prakrit*: Delhi, Motilal Banarsidass, India (1999)

इनका सार निम्न है:

(1)शौरसेनीः

इसका प्रयोग तीसरी शताब्दी से मिलने लगता है। प्राकृतों का संस्कृत नाटकों में अश्वघोष के नाटकों एवं शूद्रक के मृच्छकटिकम् में अधिक व्यवहार हुआ है। पिशल एवं कीथ आदि विद्वानों के मतानुसार मृच्छकटिकम् की रचना नाट्यशास्त्र में विविध प्राकृतों के प्रयोग के नियमों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए हुई। इस नाटक के टीकाकार के अनुसार नाटक में चार प्रकार के प्राकृतों का प्रयोग किया जाता हैः

1.शौरसेनी 2. अवंतिका 3. प्राच्या 4. मागधी।

इस नाटक में 11 पात्रों ने शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया है। इन पात्रों में सूत्रधार, नटी, नायिका, ब्राह्मणी स्त्री, श्रेष्ठी तथा इनके परिचारक एवं परिचारिकाएँ हैं। नाटक के 2 अप्रधान पात्रों ने अवंतिका का प्रयोग किया है। प्राच्या का प्रयोग केवल एक पात्र 'विदुषक' ने किया है। नाटक के 6 पात्रों ने मागधी का प्रयोग किया है। इन पात्रों में कुंज, चेटक और ब्राह्मण-पुत्र शामिल हैं। शकारि, चांडाली एवं ढक्की जैसे गौण प्राकृत रूपों का प्रयोग एक-दो पात्रों के द्वारा ही हुआ है। नाटक में शौरसेनी तथा इसके बाद मागधी प्राकृत का ही अधिक प्रयोग हुआ है।

जैन साहित्य की दृष्टि से शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग दिगम्बर आम्नाय के आचार्य गुणधर एवं आचार्य धरसेन के ग्रंथों में हुआ है। ये ग्रंथ गद्य में हैं। आचार्य धरसेन का समय सन् 87 ईसवीं के लगभग मान्य है। आचार्य गुणधर का समय आचार्य धरसेन के पूर्व माना जाता है। आचार्य गुणधर की रचना कसाय पाहुड सुत्ततथा आचार्य धरसेन एवं उनके शिष्यों आचार्य पुष्पदंत तथा आचार्य भूतबलि द्वारा रचित षटखंडागम है जिनमें प्रथम शताब्दी के लगभग की शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग हुआ है।

(महावीर सरन जैनः भगवान महावीर एवं जैन दर्शन, पृष्ठ 100-105, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद (2006))

प्राकृत के व्याकरण ग्रंथों में 'प्राकृत प्रकाश' में पहले नौ परिच्छेद लिखे गए जिनमें बाद में दो बार वृद्धि की गई। पहले के परिच्छेदों के रचनाकार वररुचि हैं। इनमें आदर्श प्राकृत का निरूपण प्रस्तुत है। अंत में, कथन है कि प्राकृत का शेष स्वरूप समझना चाहिए। वररुचि के निरूपण पर कात्यायन, भामह, वसंतराज, सदानंद एवं रामपाणिवाद ने टीकाएँ लिखी हैं। बाद के 10 वें परिच्छेद से 12 वें परिच्छेदों के 14 सूत्रों में पैशाची का तथा 17 सूत्रों में मागधी का निरूपण किया गया है। इन दोनों की प्रकृति शौरसेनी कही गई है। इसके पूर्व ग्रंथ में 'शौरसेनी' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है जबकि पहले के नौ परिच्छेदों में प्राकृत का निरूपण हुआ है। इस सम्बंध में विद्वानों का यही अनुमान है कि जिस सामान्य प्राकृत का निरूपण प्रस्तुत है, वह वास्तव में उस काल की प्रचलित शौरसेनी है। उस काल में चूँकि इसका प्रचलन एवं व्यवहार सर्वाधिक होता था, इस कारण इसके पहले किसी विशेषण को जोड़ने की आवश्यकता नहीं समझी गई। प्राकृत प्रकाश का अंतिम 12वाँ परिच्छेद बहुत बाद का प्रतीत होता है। इस पर भामह एवं अन्य किसी की टीका उपलब्ध नहीं

है। इस परिच्छेद के पूर्व ग्रंथ में कहीं भी 'महाराष्ट्री प्राकृत' का प्रयोग नहीं है। इस अंतिम परिच्छेद के अंतिम 32 वें सूत्र में उल्लिखित है, 'शेषं महाराष्ट्री वत्'। विद्वानों का यह अनुमान तर्क संगत है कि जिस काल में महाराष्ट्री को आदर्श काव्य-भाषा की मान्यता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, उस काल में यह अंतिम परिच्छेद जोड़ा गया।

भाषिक विशेषताएँ-

(1) शौरसेनी में दो स्वरों के मध्य संस्कृत के अघोष – त् एवं – थ् सघोष हो जाते हैं अर्थात् त् > द् और थ् > ध् हो जाते हैं। भवति > होदि ।

(2) क्ष > क्ख । चक्षु > चक्खु/ इक्षु > इक्खु/ कुक्षि > कुक्खि ।

(3) 'य' प्रत्यय का 'ईअ' हो जाता है। यथा संस्कृत 'गम्यते' का रूप 'गमीअदि' हो जाता है।

(2)महाराष्ट्रीः

दण्डी ने महाराष्ट्री प्राकृत को महाराष्ट्र आश्रित आदर्श प्राकृत कहा है।

(महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं विदुः। – काव्यादर्श 1/ 34)

विद्वानों में इस पर मतभेद है कि महाराष्ट्री एवं शौरसेनी का अन्तर कालगत है अथवा शैलीगत/विधागत। कुछ विद्वान महाराष्ट्री को शौरसेनी का ही विकसित रूप मानते हैं।

(Dr. Man Mohan Ghosha : " Maharāṣṭrī : A late phase of Shaurasenī ", Journal of the Department of Letters of Calcutta University, Vol. X X X, 1933)

सुनीति कुमार चटर्जी ने भी शौरसेनी प्ारकृत एवं शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की अवस्था महाराष्ट्री प्राकृत को माना है।

(भारतीय आर्यभाषा और हिन्दीः पृष्ठ 103, तृतीय परिवर्द्धित संस्करण, दिल्ली (1963))

शैलीगत/विधागत अन्तर मानने वाले विद्वानों का मत है कि शौरसेनी में गद्य तथा महाराष्ट्री में पद्य की रचना हुई है। इस कारण शौरसेनी गद्य की एवं महाराष्ट्री पद्य की भाषा है।

गहन अध्ययन करने के बाद हमारा मत है कि विद्वानों के ये मत यद्यपि परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं तथापि तत्त्वतः ये अविरोधी हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से पहले शौरसेनी में गद्य लिखा गया; बाद में महाराष्ट्री में पद्य रचना हुई। कवियों ने जब महाराष्ट्री में पद्य रचना की तो उन्होंने मृदुता के लिए स्वर मध्य स्थिति में व्यंजनों का लोप कर भाषा को स्वर बहुल बना दिया। इस कारण शौरसेनी एवं महाराष्ट्री में भाषिक अंतर परिलक्षित होता है।

भाषिक विशेषताएँ–

(1) महाराष्ट्री प्राकृत की उल्लेखनीय विशेषता है – स्वर बहुलता। स्वर बाहुल्य होने के कारण महाराष्ट्री प्राकृत में रचित काव्य-रचनाओं में संगीतात्मकता का गुण आ गया है।

(2) दो स्वरों के मध्यवर्ती अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन का लोप हो जाता है। लोको > लोओ/ रिपु > रिऊ

(3) स्वर मध्य महाप्राण व्यंजनों का लोप होकर केवल ‘ ह् ’ रह जाता है। मेघ > मेहो / शाखा > शाहा

(4) स्वर मध्य ऊष्म व्यंजनों (श् ष् स्) का ‘ ह् ’ हो जाता है। दश > दह / पाषाण > पाहाण ।

(5) अपादान एकवचन में – आहं विभक्ति प्रत्यय का प्रयोग अधिक होता है।

(6) अधिकरण एकवचन के रूपों की सिद्धि – ए / – म्मि से होती है। उदाहरणार्थ : लोकस्मिन् > लोए / लोअम्मि।

(3)मागधीः

जैसा नाम से स्पष्ट है, मागधी मगध की भाषा थी। इसका प्रयोग नाटकों में निम्न श्रेणी के पात्रों के सम्भाषणों के लिए किया गया है। महाराष्ट्री और शौरसेनी की तुलना में मागधी का प्रयोग बहुत कम हुआ है।

भाषिक विशेषताएँ-

(1) मागधी में ‘-र्’ का अभाव है। ‘र्’ का ‘ल्’ हो जाता है। पुरुषः > पुलिशे / समर > शमल

(2) ‘स्’, ‘ष्’ के स्थान पर ‘श्’ का प्रयोग इसकी प्रधान विशेषता है। सप्त > शत्त

(3) 'ज्' के स्थान पर 'य्' का प्रयोग होता है। जानाति > याणादि / जानपदे > यणपदे।

(4) द्य्, र्ज्, र्य् के स्थान पर 'य्य्' का प्रयोग होता है। अद्य > अय्य/ अर्जुन > अय्युण / आर्य > अय्य / कार्य > कय्य

(5) कर्ता कारक एकवचन में प्रायः 'अः' के बदले 'ए' पाया जाता है। सः > शे

(4)अर्द्धमागधीः

अर्द्धमागधी की स्थिति मागधी और शौरसेनी प्राकृतों के बीच मानी गई है। इसलिए उसमें दोनों की विशेषताएँ पायी जाती हैं।

(दे० मार्कण्डेय – प्राकृत सर्वस्व,पृ० 12 -38)।

अर्द्धमागधी का महत्व जैन साहित्य के कारण अधिक है।

भाषिक विशेषताएँ-

(1) 'र्' एवं 'ल्' दोनों का प्रयोग होता है।

(2) दन्त्य का मूर्धन्य हो जाना। स्थित > ठिप

(3) ष्, श्, स् में केवल स् का प्रयोग होता है।

(4) अनेक स्थानों पर स्पर्श व्यंजनों का लोप होने पर 'य' श्रुति का आगम हो जाता है। सागर > सायर / कृत > कयं । इस नियम का अपवाद है कि 'ग्' व्यंजन का सामान्यतः लोप नहीं होता।

(5) कर्ता कारक एक वचन के रूपों की सिद्धि मागधी के समान एकारान्त तथा शौरसेनी के समान ओकारान्त दोनों प्रकार से होती है।

(5)पैशाचीः

पैशाची भारत के उत्तर पश्चिम में बोली जाती थी । गुणाढ्य ने पैशाची में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक'वृहत्कथा'(बड्डकहा) लिखी थी, जिसकी उत्तरवर्ती कवियों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

इसका पैशाची पाठ अब उपलब्ध नहीं है। इस कारण किसी साहित्यिक रचना के आधार पर इसकी भाषिक विशेषताओं का निरुपण सम्भव नहीं है।

भाषिक विशेषताएँ –

प्राकृत के व्याकरण के ग्रंथों के आधार पर पैशाची की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं:

(1) सघोष व्यंजन का अघोषीकरण हो जाता हैः

गगन > गकन / राजा > राचा / मदन > मतन ।

(2) स्वर मध्य क्, ग्, च् आदि स्पर्श व्यंजनों का लोप नहीं होता।

(3) र् एवं ल् व्यंजनो का विपर्यास होना। अर्थात् र् के स्थान पर ल् और ल् के स्थान पर र् होना।

कुमार > कुमाल / रुधिर > लुधिर ।

(4) ष् के स्थान पर कहीं श् तथा कहीं स् का होना।

तिष्ठति > चिश्तदि / विषम > विसम ।

(5) ज्ञ > ञ । प्रज्ञा > पञ्ञा ।

'प्राकृत काल' में भाषा भेद आज की अपेक्षा बहुत अधिक रहे होंगे। जो साहित्यिक प्राकृत उपलब्ध हैं तथा जिनका परिचय एवं जिनकी भाषिक विशेषताओं का निरूपण किया गया है, उनको प्राकृत एवं ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के विद्वानों ने भिन्न देश भाषाओं के नाम से अभिहित किया है। इनको अलग अलग भाषाएँ माना गया है। इस सम्बंध में हमारा मत भिन्न है। इन तथाकथित साहित्यिक प्राकृतों की भाषिक विशेषताओं का जब हम अध्ययन करते हैं तो हम यह कह सकते हैं कि ये आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की तरह अलग-अलग भाषाएँ नहीं हैं। दूसरे शब्दों में ये हिन्दी, सिंधी, लहँदा, पंजाबी, गुजराती,उड़िया(ओड़िया /ओड़िशा), बांग्ला, असमी, मराठी आदि की भाँति अलग अलग भाषाएँ नहीं हैं। यदि हिन्दी भाषी हिन्दीतर किसी अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषा को बोलना नहीं जानता तो वह उस भाषा को नहीं समझ पाता। हिन्दीतर भाषा का ग्रंथ उसके लिए बोधगम्य नहीं होता। मगर इन तथाकथित भिन्न प्राकृतों में से किसी एक

साहित्यिक प्राकृत का विद्वान अन्य प्राकृतों को समझ लेता है। हम जानते हैं कि प्राकृत के विद्वान प्रत्येक प्राकृत को समझ लेते हैं। इन तथाकथित विभिन्न प्राकृतों की जो भाषिक भिन्नताओं का विवरण उपलब्ध है, वह इतना भेदक नहीं है कि इन्हें अलग अलग भाषाओं की कोटियों में रखा जाए। इस कारण, हम इन साहित्यिक प्राकृतों को अलग-अलग भाषाएँ नहीं मानते। हमारे इस मत की पुष्टि का आधार केवल भाषिक ही नहीं; व्यावहारिक दृष्टि से 'पारस्परिक बोधगम्यता' का सिद्धांत भी है। इसको यदि हम और स्पष्ट करना चाहें तो हम यह कहना चाहेंगे कि ये तथाकथित भिन्न साहित्यिक प्राकृत आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं (यथाः हिन्दी, सिंधी, लहँदा, पंजाबी, गुजराती, उड़िया(ओड़िया /ओड़िशा), बांग्ला, असमी, मराठी) की भाँति अलग अलग भाषाएँ नहीं हैं। ये कोलकतिया हिन्दी, मुम्बइया हिन्दी, नागपुरिया हिन्दी की भाँति हिन्दी भाषा के विभिन्न हिन्दीतर भाषाओं से रंजित रूपों की भाँति हैं। अपने इस मत की पुष्टि के लिए, मैं प्राकृत एवं भाषा-विज्ञान के विद्वानों का ध्यान आचार्य भरत मुनि के प्रसिद्ध ग्रंथ'नाट्य शास्त्र' की ओर आकर्षित करना चाहूँगा।

आचार्य भरत मुनि ने अपने 'नाट्य शास्त्र' में यह विधान किया है कि नाटक में चाहे शौरसेनी का प्रयोग किया जाए अथवा इच्छानुसार किसी देशभाषा का क्योंकि नाटक में नाना देशों में उत्पन्न हुए काव्य का प्रसंग आता है। देशभाषाओं की संख्या सात बतलाई गई हैः

(1) मागधी (2) आवंती (3)प्राच्या (4) शौरसेनी (5) अर्ध-मागधी (6)वाह्लीका (7) दक्षिणात्या।

(भरत मुनिः नाट्य शास्त्र – 18/34-35)

विद्वान स्वयं विचार करें कि क्या ये सात देश-भाषाएँ आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं (यथाः हिन्दी, सिंधी,लहँदा, पंजाबी, गुजराती, उड़िया(ओड़िया /ओड़िशा), बांग्ला, असमी, मराठी) की भाँति अलग अलग भाषाएँ हैं। भरत मुनि का विधान है कि नाटककार अपने नाटक में इच्छानुसार देश प्रसंग के अनुरूप किसी भी देश भाषा का प्रयोग कर सकता है। कोई नाटककार देश प्रसंगानुसार भाषा प्रयोग नीति का समर्थक होते हुए भी अपने नाटक में भिन्न भाषाओं का प्रयोग नहीं करता। इसका कारण यह है कि भिन्न भाषाओं के बोलने वालों के बीच पारस्परिक बोधगम्यता नहीं होती। यदि बोधगम्यता नहीं होगी; संप्रेषणीयता नहीं होगी तो'भावन' कैसे होगा; 'रस निष्पत्ति' कैसे होगी। कोई हिन्दी नाटककार अथवा हिन्दी फिल्म की पटकथा का लेखक बांग्ला भाषी पात्र से बांग्ला भाषा में नहीं बुलवाता; उसकी हिन्दी को बांग्ला से रंजित कर देता है। एक आलेख में लेखक ने भारत की सामासिक संस्कृति के माध्यम की निर्मिति में हिन्दी सिनेमा के योगदान को रेखांकित करने के संदर्भ में प्रतिपादित किया है कि हिन्दी सिनेमा ने बांग्ला, पंजाबी, मराठी, गुजराती,तमिल आदि भाषाओं, हिन्दी की विविध उपभाषाओं एवं बोलियों के

अंचलों तथा विभिन्न पेशों की बस्तियों के परिवेश को मूर्तमान एवं रूपायित किया है। भाषा तो हिन्दी ही है मगर उसके तेवर में, शब्दों के उच्चारण में तथा एकाधिक शब्द-प्रयोग में परिवेश का तड़का मौजूद है।

महावीर सरन जैन का आलेख – भाखा बहता
नीर/ ½@ http://www.rachanakar.org/2012/10/blog-post_1713.html

निचोड़ यह है कि ये सात देश भाषाएँ भिन्न भाषाएँ नहीं हैं; एक साहित्यिक प्राकृत के तत्कालीन सात देशों की भाषाओं से रंजित रूप हैं। आचार्य भरत मुनि ने इसके प्रयोग के सम्बंध में जो निर्देश दिए हैं, उनसे भी हमारे मत की पुष्टि होती है। नाटक में कब किस प्रकार के पात्रों के लिए किस प्राकृत का प्रयोग किया जाए – इस सम्बंध में भरत मुनि का निम्न विधान हैः

(1) अन्तःपुर निवासियों के लिए मागधी

(2) चेट, राजपुत्र एवं सेठों के लिए अर्द्धमागधी

(3) विदूषकादिकों के लिए प्राच्या

(4) नायिका और सखियों के लिए शौरसेनी मिश्रित आवंती

(5) योद्धा, नागरिकों एवं जुआरियों के लिए दक्षिणात्या और उदीच्य

(6) खस, शबर, शक तथा उन्हीं के स्वभाव वालों के लिए वाह्लीका

एक ही दर्शक समाज के श्रोताओं के लिए उपर्युक्त निर्देश से यह स्वयं सिद्ध एवं पुष्ट है कि सात देश-भाषाओं का तात्पर्य भिन्न-भिन्न भाषाएँ नहीं है। इसका तात्पर्य है कि ये सात देश-भाषाएँ एक ही प्राकृत-भाषा के तत्कालीन सात देश भाषाओं से रंजित रूप हैं।

(इ) तृतीय प्राकृत (500 ईस्वी से 1000 ईस्वी तक)

अपभ्रंश

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम महाभाष्य में मिलता है। उसके बाद भामह, दण्डी आदि ने काव्य भाषाओं की चर्चा के प्रसंग में अपभ्रंश का उल्लेख किया है। मार्कण्डेय ने नागर, ब्राचड और

उपनागर- तीन अपभ्रंशों की चर्चा की है। इनमें नागर की गुजरात में, ब्राचड की सिन्ध में और उपनागर की दोनों के बीच में स्थिति बतायी गयी है। स्पष्ट है कि मार्कण्डेय ने केवल पश्चिम के सीमित भू-भाग के अपभ्रंशों की ही चर्चा की है। इसमें सन्देह नहीं कि उनके समानान्तर भारत के अन्य भागों में भी किसी न किसी अपभ्रंश का व्यवहार होता होगा । इस काल में भी हमें दोनों स्थितियाँ मिलती हैं। एक तरफ सम्पर्क भाषा के रूप में शौरसेनी अपभ्रंश का व्यवहार होता था तो दूसरी तरफ भिन्न भिन्न देश अपभ्रंशों का चलन था।

आचार्य भरतमुनि ने उकारबहुला कहकर जिस शौरसेनी का परिचय दिया है वह हिमालय से लेकर सिन्ध तक प्रचलित थी।

हिमवत् सिन्धु सौ वीरान् ये जनाः समुपाश्रिताः

उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषा प्रयोजयेत्।

(नाट्यशास्त्र, 17/62)

शौरसेनी की अन्तरराजीय व्यवहार की स्थिति के बारे में डॉ० बाबूराम सक्सेना के विचार हैं:

'यही (शौरसेनी अपभ्रंश) भारतवर्ष भर में – क्या मध्यदेश, क्या मगध और मिथिला और क्या गुजरात और महाराष्ट्र सब कहीं – साहित्य का माध्यम बना हुआ था और जनता के परस्पर अंतः प्रान्तीय व्यवहार का साधन था'

(मध्यदेश का भाषा विकास, पृ० 25 – नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 50, अंक 1 – 2 सं० 2002 (सन्1945))।

इसी मत की पुष्टि करते हुए डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने अभिव्यक्त किया है कि अपभ्रंश काल में पूर्व के कवियों ने शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग किया है और अपनी विभाषा का बहिष्कार किया है। इसी अपभ्रंश में साहित्य सृजन की परम्परा बहुत बाद तक चलती रही तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के आदि एवं मध्यकाल के आरम्भ तक सम्पूर्ण उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा मूल रूप से शौरसेनी का वह परवर्ती रूप रहा जो गुजरात और राजस्थान में बोली जाने वाली बोलियों से मिश्रित हो गया था।

(Chatterji, S.K. : *The Origin and Development of the Bengali Language*, Calcutta Univ. Press. P.161, (1926))

राजशेखर के समय (दसवीं शती) तक शौरसेनी अपभ्रंश पंजाब, राजस्थान और गुजरात अर्थात समूचे पश्चिमी भारत की भाषा हो गई थी। स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल, कनकामर, सरहपा, कन्हपा आदि की अपभ्रंश रचनाओं से प्रमाणित होता है कि यह उस समय तक समस्त उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा थी।

अपभ्रंश के भेदों की दृष्टि से मार्कण्डेय ने 'प्राकृत सर्वस्व' में सूक्ष्म भेद व्यवस्थित प्रकरण के अन्तर्गत अपभ्रंश के 27 भेदों का नामोल्लेख किया है, उनसे अपभ्रंश के भेदों के सम्बन्ध में संकेत मिलता है।

(1)ब्राचड
(2) लाट (3) वैदर्भ (4) उपनागर (5) नागर (6) वर्वर (7) आवन्त्य (8) पंचाल (9) टक्क (10)मालव (11) कैकय (12) गौड़ (13) औड्र (14) हैव (15) पाश्चात्थ (16) पाण्डय (17) कुन्तल (18) सेंहली(19) कलिंग (20) प्राच्य (21) कार्णाट (22) कांच्य (23) द्रविड (24) गौर्जर (25) आभीर (26) मध्यदेशीय(27) वैताल ।

इन 27 नामों का उल्लेख करने के बाद भी मार्कण्डेय को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने आगे कहा कि विभाषा के भेदों की दृष्टि से तो अपभ्रंश के हज़ारों भेद किए जा सकते हैं।

इन विभिन्न अपभ्रंशों से ही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का उद्भव हुआ है। इस प्रकार से अपभ्रंश प्राकृतों और आधुनिक भारतीय भाषाओं के बीच की संयोजक कड़ी है। इस सम्बंध में आगे विचार किया जाएगा।

(दे०1. Dr. *Mahavir Saran Jain :* "The Influences of the `Prakrit` and `Apabhransha` Languages on the Modern Indo-Aryan Languages" In Jaina : Philosophy, Art and Science in Indian Culture (Set in 2 Volumes) edited by D.C.Jain and R.K. Sharma

(www. sundeepbooks.com)

2. डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री : अपभ्रंश भाषा साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, (1966))

अपभ्रंश की विशेषताएँ :

(1) अपभ्रंश तक पहुँचते पहुँचते संस्कृत की योगात्मकता के नियमों के टूटने के निशान दिखाई देने लगते हैं। डॉ० हीरालाल जैन ने संस्कृत की योगात्मकता से हिन्दी की अयोगात्मकता की विकास यात्रा को एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है: ' इस प्रकार 'रामः गतः वन्' (संस्कृत) से 'रामो गओ वणं' (प्राकृत) बनकर अपभ्रंश में 'रामु गयउ वणु' और हिन्दी में 'राम गया वन' हो गया।

(डॉ० हीरालाल जैन: रचना और पुनर्रचना, पृ० 40 – 41, डॉ० भीमराव अम्बेदकर विश्वविद्यालय, आगरा,(नवम्बर, 2002))

(2) प्राकृत की ध्वनियाँ अपभ्रंश में भी सुरक्षित हैं।

(3) द्वित्व व्यंजनों में से एक का लोप और पूर्ववर्ती अक्षर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण हो जाता है। सं0 तस्य > प्रा0 तस्स > अ0 तासु

(4) अपभ्रंश में केवल तीन कारक-समूह रह गए। (1) कर्ता – कर्म – सम्बोधन (2) करण – अधिकरण (3) सम्प्रदान एवं सम्बंध में पहले एकरूपता आई। बाद में अपादान का भी इसमें समावेश हो गया। इस प्रकार क्रिया के काल-रूपों में जो विविधता थी, वह बहुत कम हो गयी।

(5) कारकीय अर्थ को स्पष्ट करने के लिए विभक्तियुक्त पद के बाद परसर्ग जैसे शब्दों का प्रयोग होने लगा। सम्बंध कारक के लिए – केर, केरअ, केरी, तणिउ ; अधिकरण कारक के लिए – मांझ, मज्झि, उप्परि; सम्प्रदान कारक के लिए – केहिं, तण तथा अपादान कारक के लिए – होन्तउ का प्रयोग होने लगा।

(6) क्रिया की रचना कृदन्त रूपों से भी होने लगी। काल रचना की जटिलता कम हो गयी ।

(7) सर्वनामों के रूपों में परिवर्तन हो गया। उदाहरण के लिए उत्तम पु० ए० व०कर्ता का० के लिए – हउं का प्रयोग अधिक हुआ है।

(8) अपभ्रंश में देशी धातुओं एवं शब्दानुकरण मूलक धातुओं का प्रयोग भी मिलता है।

(9) अपभ्रंश में देशी शब्दावली के साथ साथ आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के उद्गम सूचक शब्दों एवं मुहावरों का भी प्रयोग मिलता है।

(10) वर्तमान कालिक कृदन्तों के उदाहरणों में पुल्लिंग – डज्झंत, सिंचंत, करंत तथा स्त्रीलिंग – उत्तारंति द्रष्टव्य हैं।

(11) भूतकालिक रचना कृदन्तों से ही अधिक होती है। उदाहरण –
अक्खिय, लइय, धूमाविय, अवलोइय, कहिय, गालिअ, भक्खिअ।

(12) क्रियाओं में आत्मनेपद, परस्मैपद एवं भ्वादि आदि का कोई भेद नहीं रहा। द्विवचन का तो पालि में ही लोप हो गया था। द्विवचन का बोध कराने के लिए 'वे' , 'वि' शब्दों का प्रयोग मिलता है।

(ग) आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँः

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का विकास अपभ्रंश से हुआ है। इस सम्बन्ध में पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ:

1. आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएँ लगभग पूर्णतः अयोगात्मक हो गई हैं।

2. ध्वनियों में अनेक परिवर्तन हो गये हैं, फिर भी लिपि में परम्परा का पालन किया जा रहा है। उदाहरणार्थ,ष् का संस्कृत के समान मूर्द्धन्य स्थान से उच्चारण नहीं होता किन्तु लिखने में प्रयोग होता है। ॲ, क़, ख़,ग़, ज़, फ़ अनेक विदेशी ध्वनियों का भी भाषाओं में प्रवेश हो गया है। इनका प्रयोग शिक्षित वर्ग विशेष के द्वारा होता है। इनका आधुनिक भाषाओं में स्वनिमिक महत्व के मुद्दे पर विद्वानों में मतभेद है।

अपभ्रंश के समान द्वित्व व्यंजन के स्थान पर एक का लोप और पूर्ववर्ती अक्षर की दीर्घता यहां भी पायी जाती है। उदाहरणार्थ: कर्म झ कम्म झ काम /निद्रा झ णिद्दा झ नींद/ सप्तं झसत्त झ सात / अद्य झ अज्ज झ आज

4. अपभ्रंश की अपेक्षा भा0आ0भा0 में विभक्ति रूपों की संख्या में कमी आ गई है। कारकीय अर्थ के लिए संज्ञा विभक्तिरूपों के बाद परसर्गीय शब्द/ शब्दांशों का प्रयोग होता है। संज्ञा विभक्ति शब्दों के प्राय दो रूप पाये जाते हैं – अविकारी एवं विकारी ।

5. केवल मराठी और गुजराती में तीन लिंग हैं । शेष भाषाओं में दो ही लिंग हैं।

6. आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि अंग्रेजी, अरबी और फारसी के बहुत सारे शब्द भारतीय भाषाओं में प्रविष्ट हो गये हैं। अपभ्रंश-काल तक शब्द भण्डार देशी था।

अपभ्रंश के विभिन्न रूपों से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकास की स्थिति:

विद्वानों ने विचार किया है कि किस अपभ्रंश रूप से किस/किन आधुनिक भारतीय आर्य भाषा/भाषाओं का विकास हुआ है। यह स्थिति निम्न रूप में मानी जाती है -

(1) मागधी > बिहारी हिन्दी (मैथिली, मागधी, भोजपुरी) / बंगला, ओड़िया/ओड़िशा, असमिया

(2) अर्द्धमागधी > पूर्वी हिन्दी (अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी)

(3) शौरसेनी > पश्चिमी हिन्दी (ब्रजभाषा, खड़ी बोली, बांगरू, कन्नौजी, बुंदेली) / राजस्थानी हिन्दी (मेवाती, मारवाड़ी, मालवी, जयपुरी) / गुजराती

(4) महाराष्ट्री > मराठी, कोंकणी

(5) शौरसेनी प्रभावित टक्की > पूर्वी पंजाबी

(6) व्राचड़ > सिन्धी

(7) पैशाची > काश्मीरी

उपर्युक्त विवरण पूर्ण एवं वैज्ञानिक नहीं है। जो विवरण प्रस्तुत हैं वे अपभ्रंश काल के लिखित साहित्यिक भाषा रूपों से आधुनिक काल के बोले जाने वाले विभिन्न भाषिक रूपों के विकास के अतार्किक प्रयास हैं। संक्षेप में हम यह दोहराना चाहेंगे कि 'भारतीय आर्य भाषाओं के क्षेत्र' में अपभ्रंश काल में भी विविध बोलचाल के रूपों का व्यवहार होता होगा। अपभ्रंश काल के इन्हीं विविध बोलचाल के रूपों से आधुनिक भारतीय भाषाओं के विविध बोलचाल के रूपों का उद्भव हुआ मगर अपभ्रंश काल के विविध बोलचाल के रूपों से सम्बन्धित सामग्री हमें आज उपलब्ध नहीं है। भाषाविज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि प्रत्येक 'भाषा क्षेत्र' में अनेक क्षेत्रगत भिन्नताएँ होती हैं जिन्हें उस भाषा की क्षेत्रीय बोलियों / क्षेत्रीय उपभाषाओं के नाम से जाना

जाता है। इतना ज्ञान तो सामान्य व्यक्ति को भी होता है कि 'चार कोस पर बदले पानी, आठ कोस पर बानी'। भाषाविज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी यह भी जानता है कि प्रत्येक 'भाषा क्षेत्र'में एक मानक भाषा रूप भी होता है जिसका उस भाषा क्षेत्र के सभी शिक्षित व्यक्ति औपचारिक अवसरों पर प्रयोग करते हैं तथा यही मानक भाषा रूप लिखित भाषा का आधार होता है तथा प्रायः यही मानक रूप उस भाषा की 'साहित्यिक भाषा' का भी आधार होता है।

(देखें – प्रोफेसर महावीर सरन जैन: भाषा एवं भाषाविज्ञान, पृष्ठ 54 – 70, लोक भारती प्रकाशन,इलाहाबाद, 1985)

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण:

डॉ. सर जार्ज ग्रियर्सन का वर्गीकरणः

डॉ. सर जार्ज ग्रियर्सन ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण डॉ. हार्नले के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए निम्न प्रकार से किया है -

(क) बाहरी उपशाखा

(अ) उत्तरी-पश्चिमी समुदाय

(1) लहँदा अथवा पश्चिमी पंजाबी

(2) सिन्धी

(आ) दक्षिणी-समुदाय

(3) मराठी

(इ) पूर्वी समुदाय

(4) ओड़िया/ओड़िशा

(5) बिहारी

(6) बंगला

(7) असमिया

(ख) मध्य उपशाखा

(ई) बीच का समुदाय

(8) पूर्वी-हिन्दी

(ग) भीतरी उपशाखा

(उ) केन्द्रीय अथवा भीतरी समुदाय

(9) पश्चिमी हिन्दी

(10) पंजाबी

(11) गुजराती

(12) भीली

(13) खानदेशी

(14) राजस्थानी

(ऊ) पहाड़ी समुदाय

(15) पूर्वी पहाड़ी अथवा नेपाली

(16) मध्य या केन्द्रीय पहाड़ी

(17) पश्चिमी-पहाड़ी

डॉ. ग्रियर्सन का यह विभाजन अब मान्य नही है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने डॉ. ग्रियर्सन के इस मत की आलोचना अपनी पुस्तक 'ओरिज़िन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑफ बेंगाली लैंग्वेज़' के परिशिष्ट 'ए' के पृष्ठ 150 से 156 में की है। उन्होंने ध्वनि-विचार एवं पद-विचार दोनों ही दृष्टियों से इस वर्गीकरण से असहमति प्रगट की है। यहाँ दोनों विद्वानों के मतों और डॉ. सुनीतिकुमार जी द्वारा डॉ. ग्रियर्सन के विभाजन की आलोचनाओं को प्रस्तुत करने का अवकाश नहीं है। जो अध्येता इनके विचारों एवं मान्यताओं को पढ़ना चाहते हैं, वे इनके ग्रंथों का अध्ययन कर सकते हैं।

1. **1.** George Abraham Grierson, *Linguistic Survey of India*, 11 Vols. in 19 Parts. Delhi, Low Price Publ. (2005) ISBN 81-7536-361-4.

- V. Indo-Aryan Languages, (Eastern Group)

Part I Bengali & Assamese

Part II Bihari & Oriya

- VI Indo-Aryan Languages, Mediate Group (Eastern Hindi)
- VII Indo-Aryan Languages, Southern Group (Marathi)
- VIII Indo-Aryan Languages, North-Western Group

Part I Sindhi & Lahnda

Part II Dardic or Pisacha Languages (including Kashmiri)

- IX. Indo-Aryan Languages, Central Group

Part I Western Hindi & Panjabi

Part II Rajasthani & Gujarati

Part III Bhil Languages including Khandesi, Banjari or Labhani, Bahrupia Etc.

Part IV Pahari Languages & Gujuri

2. S.K.Chatterji: ` Indo-Aryan and Hindi ', Firma K.L.Mukhopadhyaya, Calcutta-12 2nd ed. (1960)

आगे डॉ. चाटुर्ज्या का वर्गीकरण प्रस्तुत है। ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से यह वर्गीकरण डॉ. ग्रियर्सन के वर्गीकरण की अपेक्षा अधिक मान्य है।

डा0 सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का वर्गीकरणः

(क) उदीच्य (उत्तरी)

(1) सिन्धी

(2) लहँदा

(3) पूर्वी-पंजाबी

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी)

(4) गुजराती

(5) राजस्थानी

(ग) मध्यदेशीय

(6) पश्चिमी हिन्दी

(घ) प्राच्य (पूर्वी)

(7) (अ) कोसली या पूर्वी हिन्दी

(आ) मागधी प्रसूत

(8) बिहारी

(9) उडिया (ओड़िया/ओड़िशा)

(10) बंगला

(11) असमी

(ङ) दक्षिणात्य

(12) मराठी

डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी का वर्गीकरण डॉ. ग्रियर्सन के वर्गीकरण की अपेक्षा संगत है।

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा का वर्गीकरणः

भारतीय आर्य भाषाओं के आधुनिक स्वरूप के परिप्रेक्ष्य में एककालिक दृष्टि से इस वर्गीकरण में भी संशोधन अपेक्षित है। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी के वर्गीकरण में हिन्दी भाषा का भौगोलिक विस्तार सम्यक् रूप में नहीं दिखाया गया है। मध्य देशीय के अन्तर्गत केवल पश्चिमी हिन्दी को रखा गया है। हिन्दी भाषा – क्षेत्र के विस्तार की स्वीकृति एवं मान्यता केा ध्यान में रखते हुए डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया हैः

(क)- उदीच्य (उत्तरी)

1- सिंधी

2- लहँदा

3- पंजाबी

(ख)- प्रतीच्य (पश्चिमी)

4- गुजराती

(ग)- मध्यदेशीय (बीच का)

5- राजस्थानी

6- पश्चिमी हिंदी

7- पूर्वी हिंदी

8- बिहारी

9- पहाड़ी

(घ)- प्राच्य (पूर्वी)

10- उडिया (ओड़िया/ओड़िशा)

11- बंगाली

12- असमी

(ड़) दक्षिणात्य (दक्षिणी)

13- मराठी

पहाड़ी भाषाओं का मूलाधार चैटर्जी महोदय पैशाची, दरद या खस को मानते हैं। बाद को मध्यकाल में ये राजस्थान की प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं से बहुत अधिक प्रभावित हो गई थीं।

(डॉ. धीरेन्द्र वर्मा: हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ 53)।

उपर्युक्त भाषाओं के अतिरिक्त कई अन्य भाषाएँ भी आधुनिक आर्यभाषाओं के अन्तर्गत परिगणित हैं। भारत के बाहर श्रीलंका की सिंहली एवं मालदीव की महल् / दिवॅही तथा भारत की 1991 की जनगणना के संदर्भ को ध्यान में रखते हुए डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के वर्गीकरण में किंचित संशोधन /परिवर्द्धन करते हुए आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता हैः

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ :

(क)उपर्युक्त तालिका में हिन्दी एवं उर्दू को हिन्दी-उर्दू दिखाया गया है क्योंकि भाषिक दृष्टि से दोनों में भेद नहीं है।

इस दृष्टि से विशेष अध्ययन के लिए देखें –

1. **1. प्रोफेसर महावीर सरन जैन: हिन्दी-उर्दू का सवाल तथा पाकिस्तानी राजदूत से मुलाकात, मधुमती (राजस्थान साहित्य अकादमी की शोध पत्रिका), अंक 6, वर्ष 30, पृष्ठ 10-22, उदयपुर (जुलाई, 1991))।**
2. **2. प्रोफेसर महावीर सरन जैन: हिन्दी-उर्दू, Linguistics and Linguistics, studies in Honor of Ramesh Chandra Mehrotra, Indian Scholar Publications, Raipur, pp. 311-326 (1994))।**
3. **3. प्रोफेसर महावीर सरन जैन: हिन्दी – उर्दू का अद्वैत, संस्कृति (अर्द्ध-वार्षिक पत्रिका) पृष्ठ 21 – 30, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, (2007))।**

(ख) इसी प्रकार तालिका में 'मैथिली' को इस कारण नहीं दिखाया गया है क्योंकि लेखक ने अन्यत्र स्पष्ट किया है कि खड़ी बोली के आधार पर मानक हिन्दी का विकास अवश्य हुआ है किन्तु खड़ी बोली ही हिन्दी नहीं है। 'हिन्दी भाषा क्षेत्र' के अन्तर्गत जितने भाषिक रूप बोले जाते हैं उन सबकी समष्टि का नाम हिन्दी है।

इस दृष्टि से विशेष अध्ययन के लिए देखें –

1. प्रोफेसर महावीर सरन जैन: भाषा एवं भाषा-विज्ञान, अध्याय 4, भाषा के विविध रूप एवं प्रकार, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद (1985))।

1. **1. प्रोफेसर महावीर सरन जैन: हिन्दी भाषा के विविध रूप, श्री जैन विद्यालय, हीरक जयंती स्मारिका, कलकत्ता, पृष्ठ 2-5 (1994)**
2. **2. प्रोफेसर महावीर सरन जैन: हिन्दी भाषा के उपभाषिक रूप, हिन्दी साहित्य परिषद्, बुलन्द शहर, स्वर्ण जयंती स्मारिका (1995)**
3. **3. प्रोफेसर महावीर सरन जैन: अलग नहीं हैं भाषा और बोली, अक्षर पर्व, अंक 6, वर्ष 2, देशबंधु प्रकाशन विभाग, रायपुर (1999)**

4. **4. प्रोफेसर महावीर सरन जैन: हिन्दी की अंतर-क्षेत्रीय, अंतर्देशीय एवं अंतर्राष्ट्रीय भूमिका, सातवाँ विश्व हिन्दी सम्मेलन स्मारिका, पृष्ठ 13-23, भारतीय सांस्कृतिक सम्बंध परिषद्, नई दिल्ली (2003)**
5. **5. प्रोफेसर महावीर सरन जैन: संयुक्त राष्ट्र संघ की आधिकारिक भाषाएँ एवं हिन्दी, गगनांचल,पृष्ठ 43 – 46, वर्ष 28, अंक 4, भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद्, नई दिल्ली, (अक्टूबर – दिसम्बर, 2005))।**
6. **6. प्रोफेसर महावीर सरन जैन: हिन्दी, विश्व हिन्दी पत्रिका – 2011, पृष्ठ 17-23, विश्व हिन्दी सचिवालय, मॉरीशस (2011))।**
7. **7.** www.rachanakar.org/2010/03/blog-post_3350.html
8. **8.**

http://www.scribd.com/doc/105229692/Hindi-Bhasha

1. **9.** http://www.scribd.com/doc/105906549/Hindi-Divas-Ke-Avasa

- http://www.pravakta.com/reflections-in-relation-to-hindi-language

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की रूपरेखाः

भारतीय आर्य भाषाओं में संस्कृत प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल की भाषा है। आज भी संस्कृत का धार्मिक एवं सांस्कृतिक कृत्यों में प्रयोग होता है। विश्व की सर्वोन्नत एवं श्रेष्ठतम भाषाओं में अग्रणी स्थान पाने वाली संस्कृत भाषा का विशिष्ट महत्व है। इसी कारण इसको परिगणित भाषाओं में स्थान दिया गया है। संस्कृत के अलावा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के अंतर्गत मैथिली एवं उर्दू को भी समाहित करने की स्थिति में 14 भाषाएँ परिगणित सूची के अन्तर्गत आती हैं तथा प्रमुख भाषाओं की संख्या 20 है। भारत की जनसंख्या में आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के बोलने वाले 75 प्रतिशत से अधिक हैं। (75.30)

(क) परिगणित –

क्रम	भाषा का नाम	भाषा बोलने वालों की संख्या	प्रमुख राज्य @ राज्यों के नाम

संख्या			
1.	असमिया @असमीया	13,079,696	असम, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, नगालैंड
2.	बंगला@बांग्ला	69,595,738	पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा, असम, बिहार, निकोबार द्वीप समूह
3.	डोगरी	00,089,681	जम्मू-कश्मीर,पंजाब, हिमाचल-प्रदेश
4.	गुजराती	40,673,814	गुजरात,महाराष्ट्र, तमिलनाडु, मध्य-प्रदेश, दमन दीव, दादरा एवं नगर हवेली
5.	हिन्दी	337,272,114	हरियाणा,उत्तर-प्रदेश,उत्तराखण्ड, राजस्थान,हिमाचल-प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, मध्य-प्रदेश, छत्तीसगढ़, दिल्ली, चंडीगढ़। ^हिन्दी भाषा-क्षेत्र* के इन राज्योंsa@संघ शासित प्रदेशों के अतिरिक्त हिन्दी भाषी भारत के अधिकांश राज्यों में निवास करते हैं जिनमें आंध्र-प्रदेश, असम, गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब एवं पश्चिम बंगाल में इनकी संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। इसमें मैथिली-भाषियों की संख्या भी समाहित है।
6.	काश्मीरी@ कश्मीरी	विवरण अनुपलब्ध	जम्मू-कश्मीर
7.	कोंकणी	01,760,607	गोवा, कर्नाटक, महाराष्ट्र
8.	मैथिली	07,766,597	बिहार
9.	मराठी	62,481,681	महाराष्ट्र,कर्नाटक,मध्य-प्रदेश

10.	नेपाली	02,076,645	विवरण पहले अन्यत्र दिया जा चुका है।
11.	ओड़िया@ओड़िशा	28,061,313	ओड़िशा
12.	पंजाबी	23,378,744	पंजाब,हरियाणा,चंडीगढ़,दिल्ली
13.	सिंधी	02,122,848	विवरण पहले अन्यत्र दिया जा चुका है।
14.	उर्दू	43,406,932	विवरण पहले अन्यत्र दिया जा चुका है।
15.	संस्कृत	00,049,736	विवरण पहले अन्यत्र दिया जा चुका है।
¼[k½ अपरिगणित			
16.	भीली@भिलोदी	05,572,308	राजस्थान,मध्य-प्रदेश,दादरा एवं नगर हवेली, महाराष्ट्र
17.	बिष्णुप्रिया	00,059,233	असम,त्रिपुरा